स्त्री चेतना

मनुष्य आपसी संबन्ध एवं परस्पर मदद कर सामाजिक जीवन बिताता आ रहा है । एक दूसरे के सहयोग से ही मनुष्य जीवन संभव है । उसी के तहत स्त्री-पुरुष का आपस में साथ देना भी बहुत ज़रूरी है, तभी एक समाज का पूर्ण विकास संभव हो सकता है । स्त्री और पुरुष ने मिलकर स्त्री की हालत को बेहतर बनाने के लिए बहुत कुछ किया । यह रही व्यावहारिक तौर पर स्त्री और पुरुष की भूमिका । अब यह देखना है कि उन्होंने साहित्य को किस हद तक इस्तेमाल किया । नाटक एक ऐसी विधा है जहाँ पुरुषों का सशक्त आगमन हुआ । बरसों से उन्होंने अपनी मौजूदगी बनाई रखी है । स्त्री भी इस विधा में अपनी कलम चलाने लगी । समय के साथ उन्होंने अपना विषय बदला, प्रस्तुत करने का अंदाज़ भी बदला । हर युग में 'नारी' एक प्रमुख विषय बना रहा है । नाटककारों ने समय-समय पर विकसित स्त्री चेतना को अंकित करने का भरपूर प्रयास किया है । स्त्री विमर्श का आगाज़ स्त्री चेतना के रूप में भारतेंदु के समय से ही नाटकों में विद्यमान रहा । इसकी ज़बरदस्त पेशकश प्रसाद के नाटकों में हुआ है । इसी तरह उपेंद्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण लाल, कंचनलता सब्बरवाल, मोहन राकेश, शारदा मिश्र, विमला रैना, मन्नू भंडारी, विष्णु प्रभाकर, मृदुला गर्ग, भारतभूषण अग्रवाल, सुरेंद्र वर्मा, मुद्राराक्षस, रमेश बक्षी, शंकर शेष, भीष्म साहनी, कुसुम कुमार, शांति मेहरोत्रा, त्रिपुरारी शर्मा, प्रभाकर श्रोत्रिय, गिरीश रस्तोगी, उषा गांगुली, मीरा कांत, नाग बोडस, विभा रानी, नादिरा ज़हीर बब्बर आदि ने भी स्त्री को अपने नाटकों में स्थान दिया है । किसी ने उसकी शिक्षा पर ज़ोर दिया तो किसी ने उसकी निजी राय का समर्थन किया ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु के समय पूरे समाज में अनगिनत समस्याओं के प्रति जगरूकता की लहर दौड़ रही थी। समाज सुधार ही उनके ज़माने के लेखकों का मुख्य लक्ष्य रहा। स्त्री के मूल्य की पहचान और उसकी स्वतंत्र अस्मिता की तलाश की शुरुआत इस समय ज़रूर शुरू हुई थी। "नारी की दीन दशा और उसके खोए गौरव की पुनर्स्थापना के प्रति वे बहुत जागरूक दिखाई देते हैं" [1] इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाटक *'नीलदेवी'* है। यह नाटक 1881 को लिखा गया था। भारतेंदु जी चाहते थे कि देश के सभी लोग उसे आज़ाद कराने में सहयोग दें ; स्त्री भी इस महान कार्य केलिए आगे आए, अत्याचार करनेवालों का डटकर सामना करे। उनकी रचनाओं का पहला उद्देश्य जन जागरण है। उन्हें लगा कि स्त्री का गौरव मटमैला हो गया है। उसे पुन: गौरवान्वित करना वे अपना धर्म समझते थे। उन्होंने इस नाटक में स्त्री शिक्षा का समर्थन किया है। वे नीलदेवी के ज़रिए स्त्रियों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहते थे। वे चाहते थे कि पाश्चात्य महिलाओं की तरह ही भारतीय स्त्रियाँ भी आत्मनिर्भर बनें। भारतीय स्त्रियों के मन में यह रूढ़ हो चुकी थी कि वे हमेशा अशक्त ही रहेंगी। इस विचार को दूर करना ही उनका लक्ष्य था।

नीलदेवी अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक थी। वह मानती थी कि वीरता के साथ ही क्षत्रियों में नीति- निपुणता का होना भी परम आवश्यक है। राजा सूर्यदेव के साथ कई राजपूतों ने इस बात का समर्थन किया। उनका भी यही मानना था कि आर्यवंशी लोगों का, धर्म छोड़ कर लड़ना श्रीयस्कर नहीं। पर इसके साथ ही नीलदेवी चेतावनी देती है कि हूण दुष्ट है और उनसे सदा सावधान रहना चाहिए। यानी हर कदम सोच-समझकर रखने की समझ नीलदेवी में दिखाई देती है।

---

[1] गोविंद चातक, हिन्दी नाटक इतिहास के सोपान, पृ.सं- 11

अमीर और सिपाही छल कपट से पंजाब नरेश सूर्यदेव को बंदी बना लेते हैं । धर्म परिवर्तन न करने के कारण उसे मार डालते हैं । सूर्यदेव की मृत्यु की खबर सुनकर नीलेदेवी दुखी ज़रूर होती है । पर निराश नहीं होती । नीलदेवी बागडौर अपने हाथों में ले लेती है और अपने बेटे सोमदेव को समझाती है कि अब वक्त कौशल से लड़ने की है । इसलिए युद्ध क्षेत्र जाने केलिए तत्पर सोमदेव और उनके साथी राजपूतों को नीलदेवी रोकती है और कूटनीति से ही दुश्मनों पर वार करने का आदेश देती है । नीलदेवी का यह फित्तूर था कि वह अमीर को अपने हाथों से मार डालेगी । इस तरह खुद एक नर्तकी, गायिका के छद्म वेश में जाकर उसे मार डालती है । "इस नाटक का तथ्य यही है कि नारी में बदला लेने की भावना घर कर गई तो वह किसी भी स्तर पर उतर सकती है, कोई भी वेश धर सकती है । अत: नारी अगर जन्मदात्री है तो संहारिणी भी है ।"[1] नाटककार नीलदेवी के माध्यम से भारत की ललनाओं को जगाने की कोशिश करते हैं ।

कई बातें इस नाटक से स्पष्ट हो जाती हैं । नीलदेवी अत्यंत कोमल, सुंदर और अच्छी कलाकार है और वक्त आने पर वीरांगना का चोला भी पहन लेती है । केवल आदर्शों पर न चलकर वक्त के हिसाब से चलने का मार्ग भी दिखाती है । ईंट का जवाब पत्थर से देना जानती है । "मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चंडाल का अपने हाथ से वध करूँ । इसी हेतु मैंने कुमार को लड़ने से रोका, सो इच्छा पूर्ण हुई । अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी ।"[2] एक बात गौरतलब है कि यद्यपि भारतेंदु स्त्री की छवि को नए रंग में रंगना चाहते हैं, फिर भी पुराने रूप को पूर्णत: छोड़ भी नहीं पाते । इसलिए आखिर में नीलदेवी को सती बनते हुए दिखाया गया है ।

---

[1] नागरत्ना एन. राव, साठोत्तर हिन्दी नाटकों में नारी, पृ.सं-21

[2] नीलदेवी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, (संप- व्रजरत्नदास, भारतेंदु नाटकावली), पृ.सं- 427,

जयशंकर प्रसाद

1910 में जयशंकर प्रसाद की नाट्ययात्रा शुरू हुई थी । इस यात्रा की लगभग अंतिम कड़ी में 'ध्रुवस्वामिनी' का उदय हुआ । 'ध्रुवस्वामिनी' 1933 में लिखा गया नाटक है । स्त्री चेतना की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' की चर्चा किए बगैर नहीं रह सकते । प्रसाद ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखने में सिद्धहस्त थे । 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक भी ऐतिहासिक है । उसके ज़रिए नए मूल्यों की तलाश करना प्रसाद का लक्ष्य रहा । हिन्दी नाट्य जगत में पहली बार राष्ट्र की अस्मिता के साथ-साथ स्त्री की अस्मिता केलिए स्वर उठाया गया है । नारी को केवल वस्तु के रूप में इस्तेमाल करने के विरुद्ध प्रसाद ने आवाज़ उठाई है । यह हिन्दी नाट्यजगत में पहली बार हुआ है । तलाक को विषय के रूप में रखने का धैर्य प्रसाद ने किया है । प्रसाद ने अपने हर नाटक में स्त्री को महत्व देकर ही पात्र सृजन किया है । ध्रुवस्वामिनी आत्मगौरव से युक्त नारी है । प्रसाद स्त्री के अधिकार बोध को और उनके अभिमान को सदैव मान्यता देते थे । प्रसाद प्रगतिशील तथा सांस्कृतिक नारी पात्रों के सृजन के लिए श्रमरत होते थे । ध्रुवस्वामिनी यह प्रश्न उठाती है, "आज यह निर्णय हो जाना चाहिए कि मैं कौन हूँ ?" [1] इस एक सवाल से नारी का एक सजग[2] और प्रबुद्ध रूप दर्शकों के सामने प्रस्तुत होता है । प्रसाद का यही मकसद था कि हर व्यक्ति स्वाधीन हो । उसमें स्त्री को भी उन्होंने एक विशिष्ट स्थान दिया है । साहित्यकार को हमेशा दूर द्रष्टा होना चाहिए । स्त्री स्वतंत्रता का प्रश्न सालों से केंद्रीय मुद्दा रहा है । कानूनी तौर पर तलाक की रज़ामंदी लगभग छठी दशक में मिली थी । लेकिन प्रसाद ने उस समय में उठाने की हिम्मत दिखाई जिसको दाद देनी पड़ेगी । नारी की खोई अस्मिता को वे पुन: प्रतिष्ठित करने के पक्ष में हैं । पुरुषों की यह धारणा थी कि स्त्री उनकी सम्पत्ति है । इस विचार में कितना बदलाव आया है यह सोचनेवाली बात है ।

[1] जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृ.सं- 59

पुरुष के मन में यह धारणा बनी रहती है कि स्त्री पर अत्याचार करने केलिए वह हर तरह से हकदार है । इस धारणा को ध्रुवस्वामिनी चूर-चूर कर देती है । वह कहती है, "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है । वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।"[1] मर्यादा के भीतर रहने की भरपूर कोशिश वह करती है, पर उसका नपुंसक पति रामगुप्त अपनी सारी हदें पार कर देता है, तब वह प्रतिरोध करती है । पहली बात यह है कि रामगुप्त ने अपनी कमज़ोरी को छुपाकर ध्रुवस्वामिनी से छल-कपट से शादी कर ली । दूसरी बात यह है कि अपने शत्रु शकराज के आक्रमण से संधि प्रस्ताव करके अपनी धर्मपत्नी को सौंपने का वादा करता है । चंद्रगुप्त के कारण ध्रुवस्वामिनी इस बदहालत से बच जाती है । रामगुप्त के इस गिरी हुई हरकत से खिन्न हो उसे छोड़कर उसने संरक्षक चंद्रगुप्त के हाथों खुद को समर्पित कर दिया । ध्रुवस्वामिनी के इस कदम को नैतिक स्तर पर मान्यता दिया जाता है । यही नहीं धार्मिक स्तर पर इसकी स्वीकृति भी दिलवाया जाता है । इस नाटक में पुरोहित का यह संवाद अत्यंत महत्वपूर्ण है । वह कहता है, "स्त्री-पुरुष के परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग को ही विवाह कहते हैं और ऐसा न होने पर धर्म और विवाह खेल है ।"[2] ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त से लाख विनती करती है कि वह उसे शकराज के हाथों न सौंपे । वह उसकी विलास सहचरी भी होने केलिए तैयार होती है पर रामगुप्त उसकी एक न सुनता । तब ध्रुवा के सामने उससे अपना संबंध तोड़ने के अलावा कोई चारा नहीं होता और वह संबंध तोड़ देती है । इससे कोई भी ध्रुवा के कदम को गलत नहीं कह सकता । दाम्पत्य जीवन के इस बिखराव तथा एक स्त्री के भावनात्मक मन के कारण ध्रुवा का मन चंद्रगुप्त की ओर मुड़ जाता है । चूँकि यह अत्यधिक सहज है, कोई भी ध्रुवा पर उँगली नहीं उठा सकता । "सामाजिक मर्यादा के प्रति भी उसमें विचारशीलता है, किंतु उसकी

[1] जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृ.सं- 30
[2] वही, पृ.सं- 54

रूढ़िगत प्रवंचना का शिकार होने केलिए वह कदापि तैयार नहीं है ।"[1] इस नाटक में ध्रुवस्वामिनी आधुनिक जाग्रत नारी का प्रतिनिधित्व करती है ।

शारदा मिश्र

स्वतंत्रता पूर्व महिला नाटककारों में शारदा मिश्र का नाम महत्वपूर्ण है । उन्होंने पाँच मौलिक नाटकों की सृष्टि की है । इनमें से तीन नाटकों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है-'त्रिकोण' । इन सारे नाटकों में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है । 1941 में प्रकाशित 'विवाह मंडप' में उन्होंने नारी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है । 'त्रिकोण' में संज्ञा, शेमित्रा और द्रौपदी को आधार बनाकर तीन-तीन नाटकों की रचना की गई है तथा 1965 ई में प्रकाशित 'आमेर की सरस्वती' में अकबर और जोधाबाई को आधार बनाया गया है । लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत जोधा की वजह से हिंदू जनता 'जजिया' कर से मुक्त हो जाती है । नाटककार यह कहना चाहती हैं कि स्त्री के हाथ में अधिकार आ जाए तो सबका हित ही होगा ।

उपेंद्रनाथ अश्क

स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी रंगमंच की अवरुद्धता को तोड़कर रंगानुकूल नाटक लिखने का श्रेय उपेंद्रनाथ अश्क को जाता है । यानी प्रसाद के बाद अश्क ने हिन्दी नाटक को एक नई दिशा दी । वे अपने नाटकों के ज़रिए मध्यवर्गीय जीवन के करीब आ पहुँचे । उनका नाटक है- 'स्वर्ग की झलक' । इसमें उन्होंने मिसिज़ अशोक और मिसिज़ राजेंद्र के ज़रिए यह ऐलान करने की कोशिश की है कि औरत चाहे कितनी भी आधुनिक हो, पढ़ी लिखी हो, पर पाश्चात्य सभ्यता के रंग में पूर्ण रूप से रंग कर, अपने घर और घरवालों के प्रति ज़िम्मेदारी के प्रति नज़रंदाज़ करती है तो इसे 'तबाही' नाम ही दिया जा सकता है ।

[1] जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, पृ.सं- 245

'कैद' नाटक का विषय विवाह पर आधारित है । इसकी नायिका अपराजिता विदुर जीजा से शादी करने को मजबूर होती है । अश्क ने मात्र अपराजिता की ज़िंदगी के दर्द को न दिखाया बल्कि सामाजिक जीवन की उस कुरीति की ओर संकेत किया है, जो इंसानी रिश्तों में सहजता और संतुलन बरकरार नहीं होने देती । वह कभी भी उस कैद से निकलने की कोशिश नहीं करती ।

'उड़ान' नाटक में तो अपराजिता से ठीक विपरीत पात्र-प्रस्तुति ही हुई है । इसकी नायिका माया पुरुष का गुलाम न होकर उसका हमसफर बनना चाहती है । परंपरागत बंदिशों को तोड़ देना चाहती है । चुप्पी को अपनाने केलिए तैयार नहीं होती । प्रतिरोधी रवैया अपनाती है । पर अपनी ज़िंदगी से ही उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि पुरुष कभी भी हमसफर की चाह नहीं करता । उसे तो एक दासी की ज़रूरत होती है । पर फिर भी समझौते का हाथ थामने के विरुद्ध डटी रहती है । श्री धर्मवीर भारती इन दोनों नाटकों का विश्लेषण यों करते हैं, " 'कैद' में नारी बंध गई है । अपनी आत्मा की मंज़िल और अपने सपनों के देवता से दूर पारिवारिक बंधनों और सामाजिक रूढ़ियों में आबद्ध, वह चट्टानों पर सर पटकती हुई, पछाड़ें खाती हुई जलधारा की तरह टूट-टूटकर बिखर रही है । 'उड़ान' में वही नारी आदिम पुरुष की हिंस्र वासना, कवि-हृदय की अपार्थिव उपासना और स्वामी की अधिकार-लोलुपता का निषेध करती हुई पीले चाँद की रूमानी छाया में, यथार्थ की चट्टानों पर घायल, लेकिन अपराजित उन्मुक्त हिरनी की तरह एक स्वस्थ समाधान की खोज में निकल जाती है ।"[1] वास्तव में ये दोनों नाटक एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । अश्क हर नाटक में स्त्री के संगिनी रूप पर ज़ोर देते हैं ।

'अलग-अलग रास्ते' में अश्क विवाह रूपी संस्था के खोखलेपन की चीर-फाड़ करते हैं । पुराने संस्कार और परंपरागत शैली में चलते रहनेवाले विचारों से बंधे रहकर

[1] कैद और उड़ान, पृ.सं-13-14

ताराचंद अपनी बेटियों का विवाह करा देते हैं। इसमें उनकी बेटियों का जीवन बरबाद हो जाता है। समाज में ब्याह मनुष्य से, या मनुष्य के रिश्ते से नहीं होता बल्कि नौकरी के रिश्ते से, पद और भौतिक खयालों से होता है। ब्याह सिर्फ परंपरा का पालन का नाम है। उसमें जीवन-संगीत या जीवन-अनुभूति नाम मात्र भी नहीं होती। ताराचंद भी कुल-घराना देखकर एक बेटी की शादी कराते हैं और दूसरी बेटी की शादी लड़के के पिता की सज्जनता और लड़के के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना से कराते हैं। पर ये सब बेटियों के वैवाहिक जीवन में त्रासदी भर देते हैं।

इस नाटक में राजी हमेशा रूढ़ियों से चिपकी रहती है तो रानी रूढ़ियों को मिटाकर आगे निकल जाना चाहती है। रानी को यह एहसास होता है कि उसके पति का नज़र उसके पिता के धन-दौलत पर है। उसके साथ समर्पित होकर जीने केलिए तैयार नहीं होती और सारे बंधनों को चकनाचूर करके निकल जाती है। यह वास्तव में परंपरागत वैवाहिक पद्धति पर एक ज़ोरदार तमाचा है। पर राजी तो सब कुछ सहनेवाली स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है। पति द्वारा त्यक्त होकर भी पति का घर नहीं छोड़ती। सब कुछ लाचार होकर सहती रहती है। सच तो यह है कि पुरुष स्त्री की इस लाचारी और मजबूरी का फायदा उठाता रहता है | अश्क मानो यह संदेश देना चाहते हैं कि स्त्री को इस कैद से मुक्त होने केलिए पहल करना ही है। नहीं तो यह बेकार का समर्पण उसकी नियति बन जाएगी।

'भँवर' में शिक्षित एवं आधुनिक नारी की उच्छृंखलता और उसकी कुंठित वैवाहिक जीवन का चित्रण प्रस्तुत किया है। इन दोनों रूपों को प्रतिभा नामक नारी के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सभी तरह से जागरूक स्त्री होकर भी उसका दाम्पत्य सफल न रहा। सच्चे प्यार की प्राप्ति भी नहीं हो पाती। इसलिए वह विरक्ति और निराशा के भँवर में फँस जाती है। अश्क विवाह को एक कला मानने के पक्ष में है। जो इनसान इस

कला को समझता है, वह उसे निभा पाता है । मृगतृष्णा का अंत न होनेवाली स्त्री को प्रस्तुत कर अश्क यह कहना चाहते हैं कि समाज के सहज विकास केलिए स्त्री का आधुनिक होना, शिक्षित होना, स्वतंत्र होना सब आवश्यक है पर उच्छृंखलता का कालिख पुतने पर नारी का विकृत रूप सामने आता है जिससे समाज का पतन निश्चित है ।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर ने अपनी नाट्य कृतियों में नारी को कई रूपों में चित्रित किया है। कहीं वह एक आदर्श भारतीय नारी है, कहीं स्वछंद नारी है, कहीं शोषण को चुपचाप सहनेवाली है तो कहीं किसी न किसी तरह शोषण का प्रतिरोध करनेवाली है। इस रूप की चर्चा करते वक्त स्त्री विमर्श की बात उठाना उचित होगा । नर और नारी के बीच के भेदभावों के खिलाफ़ तथा स्त्रियों के अधिकार प्राप्ति केलिये किये जानेवाला संघर्ष नारी मुक्ति आंदोलन अथवा नारीवाद के अंतर्गत आते हैं । गाँधार की भिक्षुणी, डॉक्टर, युगे-युगे क्रांति, अब और नहीं, टगर आदि नाटकों के साथ-साथ 'आँचल और आँसू' नामक एकांकी को भी चुना गया है।

'गाँधार की भिक्षुणी' एक ऐतिहासिक नाटक है । इसकी नायिका आनंदी एक वीरांगना है । वह इतनी सबल है कि व्यूह रचने, वीरों को इकट्ठा करने आदि ज़िम्मेदारियों को अपने कंधे पर उठा लेती है । मालवी उसके हर काम में साथ देती है । वह 'माँ की बेटी' मानने में ही गर्व महसूस करती है, न कि 'माँ का बेटा'। आनंदी और मालवी हर अत्याचार के खिलाफ़ आवाज़ उठाती हैं । आनंदी कहती है- "हूणों ने नारी पर

जो अत्याचार किए हैं उसका प्रतिशोध चाहती हूँ मैं ।"[1] ऐसे पात्र सृष्टि के ज़रिए पूरे जन समूह को, खासकर औरतों को जागृत करना नाटककार का लक्ष्य है ।

'डॉक्टर' नाटक में नायिका डॉ. अनिला फर्ज़ और बदले की भावना के बीच पड़कर बहुत अधिक संघर्ष झेलती है । अनिला का पति सतीश चंद्र, उसे इसलिए छोड़ देता है कि वह कम पढ़ी-लिखी है और समाज के तौर तरीके से बिल्कुल अनजान है । लेखक ने अपने नाटक में यह नया मोड़ दिया कि अनिला पढ़कर एक डॉक्टर बन जाती है । इस तरह वह अपनी कमी को मिटा देती है । गौरतलब बात यह है कि सभी नारीवादी इस बात पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं कि औरतों को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए । आगे इस नाटक में, जब अचानक एक दिन अनिला सतीश की पत्नी को मरीज़ के रूप में पाती है तो मन में बदले और फ़र्ज़ का द्वंद्व उत्पन्न होता है । पर अंत में फ़र्ज़ की जीत होती है । इससे नाटककार ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि नारी संकुचित भावनाओं व प्रतिशोध की भावना से ऊपर उठकर सही मनुष्य का दर्जा प्राप्त कर सकती है ।

'युगे-युगे क्रांति' थोड़ा अलग किस्म का नाटक है । इसमें 1875ई. से लेकर आज तक के सामाजिक परिवर्तन का एक तुलनात्मक ब्यौरा प्रस्तुत हुआ है । इसमें एक पात्र है शारदा । गाँधीजी के असहयोग आंदोलन के प्रारंभिक दौर में युवतियाँ पीछे नहीं रहीं । उन्हीं में से एक है शारदा । घर की चार दीवारी लाँघकर वह देश को आज़ाद कराने में अपना योगदान देती है। वह दूसरी औरत को जागृत करने की जी तोड़ मेहनत करती है। शारदा कहती है, "घर के अंदर बैठकर मरने से यह बेहतर है कि हम भी पुरुषों की तरह कष्टों का सामना करें और तब यदि मौत आए तो हँसते-हँसते उसे गले से लगा लें.....नारी-पुरुष के अधिकार समान हैं और कर्तव्य भी समान हैं।"[2] समाज की कई शक्तियाँ शारदा के हौसले को पस्त करने की कोशिश करती हैं पर वह कभी नहीं हारती ।

[1] विष्णु प्रभाकर, संपूर्ण नाटक-5, पृ.सं- 112
[2] वही, संपूर्ण नाटक-4, पृ.सं-313

शायद नाटककार के मन में ऐसी शारदाओं की चाह है, जो दासता रूपी दानव का संहार करें।

'अब और नहीं' में नाटककार ने परिवार में पुरुष के आधिपत्य का एक यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है । इसका नायक वीरेंद्र प्रताप, पत्नी शांता के ऊपर अपने सारे फ़ैसले, प्यार से थोपता है । इस प्यार के पीछे की असलियत को पहचाने बिना शांता, सब कुछ मान लेती है, चाहकर भी मना नहीं कर पाती । उसे सितार बजाने का शौक था । शादी के बाद तो वह भी पीछे छूट गया । सालों बाद उसे एहसास हुआ कि उसने अपने लिये तो कभी जिया ही नहीं । वह अब सारे बंधन से खुद को आज़ाद करना चाहती है और अपने शौक में पूरी तरह से लीन होने का निर्णय लेती है । वह इसके लिये अपना भरा-पूरा परिवार और घर छोड़कर चली जाती है । शांता अपनी बेटी को उपदेश देती है कि उसे संस्कारों से लड़ना होगा । और बचपन से ही बच्चों को अन्याय का विरोध करना सिखलाना होगा । कहने का मतलब यह है कि लड़कियों को पहले मानसिक रूप से सशक्त होना है । नाटककार पुरुष के शुक्ल पक्ष को प्रस्तुत करने में ज़रा भी नहीं हिचकते । उनके शब्दों में- "वर्तमान समाज में 'हमारा घर' का अर्थ है पुरुष का घर । और पुरुष नारी-मन को समझने में नहीं, मारने में विश्वास करता है ।"[1] याने विष्णु प्रभाकर स्त्री को समझने की बात करते हैं ।

'टगर' नाटक की नायिका को उसका पति शेखर जो एक साहित्यकार है, छोड़ देता है क्योंकि वह पति के समान साहित्यिक बातों की चर्चा नहीं कर सकती । इससे उसके मन को बहुत ठेस पहुँची और तब से पूरे पुरुष-वर्ग से बदला लेने की ठान लेती है । ठाकुर और माथुर इसके शिकार बने । पर इसके बाद उसे ऐसा लगने लगता है कि अपने जाल में आप ही फँसती जा रही है । वह यह खेल बंद करने का निर्णय लेती है । नाज़िम

[1] विष्णु प्रभाकर, संपूर्ण नाटक-4, पृ.सं-313

से शादी करने के लिए भी तैयार नहीं होती । वह यह अच्छी तरह जानती थी कि उसका भूतकाल उसका पीछा कभी नहीं छोड़ेगा । वह नाज़िम से कहती है- "अभी मैं तुम्हारी प्रेमिका हूँ लेकिन जब तुम कानून की दृष्टि से मेरे पति हो जाओगे तो तुम बदल जाओगे । तुम स्वामी, भर्ता, परमेश्वर न जाने क्या-क्या रूप धारण कर लोगे ! तब क्या तुम्हें बार-बार मेरा भूत याद नहीं आएगा । तुम कुरेद-कुरेदकर मेरे आत्मसमर्पण की बात नहीं पूछोगे ? नहीं पूछोगे कि मेरा कोई और प्रेमी भी था .....? तुम मौन हो । इसलिए कहती हूँ, मुझे मुक्ति दो, मुझे जाने दो...."[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि इस तरह का एक ठोस निर्णय लेने की क्षमता नारीवाद की देन है और इसे विष्णु प्रभाकर ने अच्छी तरह पकड़ा है ।

'आँचल और आँसू' एकांकी में सुशीला अपने पति के बच्चों को प्यार से पालती है । पर जब उसे पता चलता है कि राकेश ने परिवार नियोजन में अपना ऑपरेशन करवा लिया है तब उसे झटका लगता है । राकेश ने अपने और अपने बच्चों के बारे में खूब सोचा पर सुशीला की कामनाओं की ज़रा भी कद्र नहीं की । तब राकेश तलाक माँगता है । लेकिन वह नहीं देती । उसके विचार में, यही उसकी सज़ा थी । अब वह हारकर भी जीत गई । नाटककार आदर्श की नींव पर यथार्थ के भव्य महल के निर्माण के पक्षधर है । इसलिये बिना बंधन तोड़े प्रतिशोध लेने का मार्ग सुझाते हैं ।

विष्णु प्रभाकर, अपने नाटकों के ज़रिये स्त्री को समाज के केंद्र में लाने की कोशिश करते हैं । अपनी कमियों को भूलकर धैर्य से आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं । इसके लिये वे भरोसा भी दिलाते हैं कि सभी पुरुष स्त्री का शोषक नहीं है । उदा. के लिये- 'डॉक्टर' में दादा, केशव; 'गाँधार की भिक्षुणी' में यशोधर्मन आदि । नाटककार का मानना है कि देश का विकास तभी संभव है जब स्त्री- पुरुष साथ-साथ आगे बढ़े न कि किसी एक को पीछा

[1] विष्णु प्रभाकर, संपूर्ण नाटक खंड-4, पृ.सं-387

छोड़ दूसरा आगे निकल जाए। उनके हिसाब से स्त्री के हर बंदिशों से आज़ाद होने का सिद्धांत ही स्त्री विमर्श है।

विमला रैना

श्रीमती विमला रैना का एक नाटक है- 'न्याय' जिसका प्रकाशन 1958 में हुआ था। इस नाटक में एक धनी युवक देवकी की खूबसूरती पर फिदा होकर उससे शादी करता है। यह शादी उस आदमी केलिए बस एक खेल था। जब उसे पता चलता है कि देवकी गर्भवती है तो वह खिसककर अमरीका चला जाता है। पर देवकी हिम्मत नहीं हारती और सधैर्य बच्चे को जन्म देती है। नौ साल बाद अपने कपटी पति चंद्रमोहन से मुलाकात होती है। अपने बेटे की बात जानकर उसके मन में प्यार उमड़ आता है और अपने साथ ले जाना चाहता है। जब देवकी को अपने पति की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, तब वह उसे छोड़कर चला गया था। इसी वजह से अपने बेटे को देने केलिए तैयार नहीं होती। चंद्रमोहन के द्वारा हक जमाते हुए देखकर देवकी का मन तड़प उठता है जिसके कारण वह आत्महत्या कर लेती है।

इनकी और एक नाट्य कृति है 'खंडहर'। इसमें विधवा की समस्या को उठाया गया है। दुनिया ने बहुत तरक्की कर ली है फिर भी संकीर्ण मानसिकता से छुटकारा हासिल नहीं हुआ है। इस नाटक में रजनी अपने बच्चों को लेकर जेठ-जेठानी के पास रहने लगती है। मगर वह वहाँ चैन से नहीं रह पाती। मगर पति के दोस्त कर्नल कृष्णचंद के प्रोत्साहन से वह नौकरी करने निकलती है। समय बीतता गया और रजनी के बच्चे बड़े हुए, उनकी शादी कर दी गई। रजनी की ज़िम्मेदारियाँ खत्म हुई पर परिवार और समाज की गंदी नज़रों से छुटकारा नहीं मिला। रजनी और कृष्णचंद के बीच के रिश्ते को लेकर लोग तरह-तरह की बातें बनाने लगे। इसका अंत करने केलिए कृष्णचंद रजनी से विवाह का प्रस्ताव रखते हैं पर रजनी ने न कह दी क्योंकि वह लोगों की झूठी बातों को

सच साबित नहीं करना चाहती थी। श्रीमती विमला रैना ने औरत की दशा, पीड़ा आदि को सच्ची अनुभूति का रंग चढ़ाकर कागज़ में उतारा है।

मोहन राकेश

मोहन राकेश ने जितने भी नाटक लिखे हैं, उन सभी में स्त्री की एक अहं भूमिका है। 1958 में प्रकाशित 'आषाढ़ का एक दिन' उनका प्रथम पूर्णकालिक नाटक है। इसमें शक की कोई गुंजाइश ही नहीं कि यह कालिदास पर केंद्रित नाटक है पर इसी में मल्लिका को भी केंद्र में रखा गया है। नाटक की लोकप्रियता का मूल कारण मल्लिका है। ज़िंदगी भर मल्लिका को दुख का सामना करना पड़ता है। जिस इंसान से वह बेहद मुहब्बत करती थी, उसी को वह अपनी ज़िंदगी से अलग करती है। वह कालिदास के उज्ज्वल भविष्य के रास्ते काँटा बनकर रहना नहीं चाहती थी। कालिदास केलिए वह आस्थामय प्रेरक के रूप में हमेशा बनी रहती है। अनन्य प्रेम में उसका अटूट विश्वास था। पर उसके नसीब में दुख सहना ही लिखा था। इसकी वजह से उसे दर्शकों की पूरी सहानुभूति मिलती है। समय के हाथों मल्लिका पिस जाती है। इस नाटक में बाहरी संघर्ष की अपेक्षा आंतरिक संघर्ष पूर्ण रूप से विद्यमान है। इसमें भावनाओं, मनोवृत्तियों का संघर्ष प्रस्तुत हुआ है खासकर मल्लिका के मानसिक संघर्ष को।

1963 में प्रकाशित 'लहरों के राजहंस' में राकेश ने आधुनिक व्यक्ति की दुविधा भरी मानसिकता को प्रस्तुत किया है। इसके लिए उन्होंने नंद और सुंदरी को माध्यम बनाया है। यही नहीं, इन पात्रों के ज़रिए स्त्री-पुरुष संबंध की सामान्य नियति को ढूँढने का प्रयास भी हुआ है। इस नाटक में सुंदरी केंद्र पात्र है। सुंदरी अपने सौंदर्य पर गर्व करनेवाली थी, इसलिए कामोत्सव का आयोजन करती है। उसे अपने सौंदर्य के सम्मोहन पर भी पूर्ण विश्वास है। नंद उसके प्रेम और सौंदर्य से मुक्त कभी नहीं होता है। यह बात सुंदरी के मन में रूढ़ हो गई थी। इसलिए नंद उसके सामने दबा घुटा सा महसूस करता

है। इसमें सुंदरी और गौतम बुद्ध के बीच में संघर्ष होता है। इनमें से हार-जीत का निश्चय नंद के माध्यम से होता है। हर अंक में सुंदरी को हार का सामना करना पड़ता है। पहले अंक में यशोधरा को नीचा दिखाने केलिए कामोत्सव का आयोजन करती है। पर कोई भी इसमें भाग नहीं लेता। सभी यशोधरा के दीक्षा समारोह में उपस्थित होते हैं। दूसरे अंक में नंद सुंदरी के सौंदर्य और सम्मोहन पाश के बावजूद गौतम बुद्ध की ओर खिंचा चला जाता है। तीसरे अंक में नंद ठीक समय पर नहीं लौटता और जब लौटता है तो 'गौतम बुद्ध' बनकर लौटता है। सुंदरी को हार का सामना करना पड़ता है। उसने अलका से कहा था- "देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते ?"[1] सुंदरी ने अहंकार से यशोधरा पर व्यंग्य कसा था पर नियति ने उसे ही झुका दिया। जिस बात का घमंड सुंदरी में था उसे वक्त ने चूर- चूर कर दिया। सुंदरी के मन में नंद के प्रति पूर्ण विश्वास था कि वह उसे छोड़कर नहीं जाएगा। नंद के पूछने पर वह कहती है कि ऐसी असम्भव बात क्या वह सोच सकती थी ? सुंदरी किसी के आगे झुकना भी नहीं चाहती। जब कामोत्सव में उपस्थित होने केलिए कोई नहीं आता तो वह अपने आपे से बाहर हो जाती है। पर वह कहती है- "अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ। और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ ये होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएँ। उन सब से कह दें कि मेरे यहाँ आने केलिए किसी कल की प्रतीक्षा में वे न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं .....।"[2] मोहन राकेश ने आज के मानव की बेचैनी और विवशता को बहुत ही बढ़िया तरीके से चित्रित किया है।

[1] मोहन राकेश, लहरों का राजहंस, पृ.सं- 29
[2] वही, पृ.सं-62

'आधे-अधूरे' नाटक मोहन राकेश का तीसरा नाटक है जिसका प्रकाशन 1969 में हुआ था। स्त्री-पुरुष संबंधों की विडम्बना, विषमता और त्रासदी परत-दर-परत विश्लेषण करने में राकेश सिद्धहस्त है। नर-नारी के बीच के जटिल रिश्ते को राकेश ने अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है। इसमें अर्थ और काम के भँवर में फँसे आधुनिक मानव को साफ दिखाया है। इस नाटक में सावित्री पूर्णता की तलाश करती है पर विडंबना की बात यह है कि अंत तक उसका जीवन अधूरा ही रहता है। उसी माहौल में जीने के लिए विवश होती है। असंतुष्ट होकर जीना उसकी नियति बन जाती है। 'आधे-अधूरे' में सावित्री की एक अहम भूमिका है। राकेश ने अपने नाटक में कई बातों को मिलाने की कोशिश की है। "इस नाटक के केवल केंद्रीय स्त्री-पुरुष ही नहीं, बल्कि इस परिवार की परिधि को छूनेवाले समाज के विभिन्न स्त्री-पुरुषों की, परिस्थितियों की भिन्नता के बावजूद, जीवन के स्वरूप और उनकी नियति की समानता के द्वारा राकेश 'प्रस्तावना' की सत्यता और उसकी सार्वभौमिकता को स्थापित करते हैं।" [1] समाज में मूल्य बदलता रहता है। तात्कालिक सुविधा पर ही हर मूल्य समाज में बना रहता है। इसका सामना करते-करते सावित्री थक जाती है पर मुक्त हो भी नहीं पाती।

नाटक की शुरुआत में ही सावित्री के द्वारा स्त्री के व्यक्तित्व, संघर्ष और अंतर्द्वंद्व की झलक मिलती है। "स्त्री कई-कुछ संभाले बाहर से आती है। कई-कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का है, कुछ अपना। चेहरे पर दिन-भर के काम की थकान है और इतनी चीज़ों के साथ चलकर आने की उलझन।" [2] सावित्री लाख कोशिश करने पर भी बाह्य और व्यक्तिगत जीवन में तालमेल बिठा नहीं पाती है। सावित्री के इस परिचय से एक तस्वीर उभरती है। वह अपने पति महेंद्रनाथ से मुक्त होना चाहती है पर खुद को असफल पाती है। फिर उसी को ठीक करने की कोशिश करने लगती है पर उसमें भी असफल हो जाती

[1] डॉ.जयदेव तनेजा, मोहन राकेश, रंग-शिलप और प्रदर्शन, पृ.सं- 225
[2] आधे-अधूरे, मोहन राकेश

है । सावित्री की मनस्थिति को दर्शाने केलिए राकेश ने माला को एक प्रतीक के रूप में अपनाया है । सावित्री जगमोहन से मिलने केलिए तैयार हो रही थी । तब उसकी माला टूट जाती है । उसकी मोतियाँ बिखर जाती हैं । यह उसकी वर्तमान स्थिति को दर्शाता है । जैसे मोतियाँ धागे में पिरोयी जाती हैं, वैसे ही हर स्त्री अपने परिवार के सदस्यों को पिरोकर रखने की जी जान से कोशिश करती है । सावित्री की माला टूट जाती है तो वह उसे छोड़ दूसरी माला लेकर पहनती है । यह वास्तव में इस ओर इशारा करता है कि सावित्री एक नई ज़िन्दगी अपनाने का निश्चय कर चुकी है, जगमोहन को अपना हमसफर बनाने का मन बना चुकी है । उसी तरह जाते वक्त उसे जूते की जोड़ी नहीं मिलती तो फिर उसे ठुकरा देती है । अपने पसंद का जूता, समान नाप का जूता न मिलना इस ओर इशारा करता है कि अपने पति के साथ खुश नहीं है पर अपने पसंद के आदमी को हमसफर बना भी नहीं पाती । इस नाटक में आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की एक सही तस्वीर उभरकर सामने आती है, खासकर एक औरत की स्थिति को समझने की कोशिश की गई है ।

मन्नू भण्डारी

मन्नू भण्डारी ने 'बिना दीवारों के घर' (1966) नाटक से नाटक के क्षेत्र में अपना कमाल दिखा दिया । औरत जब घर के अंदर सीमित थी तब उसने कई समस्याओं का सामना किया । पर जब उसने घर से बाहर कदम रखा तब उसकी समस्याएँ भी कई रूपों में सामने आने लगीं । इस नाटक में नौकरीपेशा शोभा की समस्याओं को शब्दबद्ध किया गया है । शोभा को अपने पैरों पर खड़ा करने वाला उसका पति अजित ही था पर वह उसका हक जताता रहता । वह हमेशा शोभा को 'अजित मेड' कहता था । अजित और शोभा के अपने-अपने सोच की वजह से दोनों में फासला बढ़ता जाता है । अजित उस पर अपना वर्चस्व कायम रखना चाहता था पर शोभा इसके लिए तैयार नहीं थी । इन दोनों के अलगाव का बुरा अंजाम बेटी को भुगतना पड़ता है । स्त्री को हमेशा बच्चों का वास्ता

देकर पीछे खींचा जाता है । पर इसमें शोभा के बढ़ते कदमों को यह भावना रोक नहीं पाई । अपने अस्तित्व केलिए अपनी बेटी से भी नाता तोड़ने केलिए तैयार होती है ।

लक्ष्मीनारायण लाल

'अंधा कुआँ' नाटक 1955 को प्रकाशित स्त्री केंद्रित नाटक है । घरेलू हिंसा की शिकार बनती सूका की ज़िंदगी का ब्यौरा देती एक नाट्य कृति है 'अंधा कुआँ' । भगौती अपनी पत्नी सूका को हमेशा मारता पीटता है । उसने सूका को पाने केलिए एड़ी-चोटी एक कर दी थी । पर अपने हाथ में आ जाने के बाद रोज़-रोज़ उसका हलाल करता । इसका कारण वह यह कहता है, "इसलिए कि मैं अपनी बेइज़्ज़ती का बदला लूँ ।"[1] पुरुष अपनी शारीरिक ताकत का दम्भ भरता है और स्त्री पर आज़माता है । यह तब और ज़ोर पकड़ता है जब स्त्री इसका विरोध न कर, सहती रहती है । औरत का एक मूक गाय बने रहना ही पुरुष पसंद करता है । यही सीख भगौती का दोस्त उसे देता है । यानी पुरुष एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं ।

लक्ष्मीनारायण लाल ने सूका के ज़रिए एक गहरा दर्शन दर्शकों के सामने रखने की कोशिश की है । सूका को भगौती रस्सी से बाँधता है तो उसका भाई अलगू उसे खोलने लगता है तो वह रोकती है । कहती है, "इन रस्सियों को तैयार करनेवाले और इनसे गाँठ बनानेवाले जब तक वे हाथ हैं तब तक केवल इन रस्सियों को काटने से कुछ नहीं होगा, कुछ नहीं होगा बाबू ।"[2] नाटककार यह कहना चाहते हैं कि बीमार का इलाज नहीं बीमारी का इलाज करना है । एक भगौती गया तो हज़ारों पैदा हो जाएँगे । याने भगौती जैसे लोगों के मन में जिस वजह से अपनी पत्नी पर अत्याचार करने की भावना उठती है, उसे नींव से निकालना आवश्यक है । तभी एक उज्ज्वल समाज का निर्माण हो सकता है । स्त्री की स्थिति सुधारनी है तो जड़ से शुरू करनी होगी । सिर्फ बाह्य

[1] लक्ष्मीनारायण लाल, 'अंधा कुआँ', पृ.सं- 5
[2]वही, पृ.सं- 68

परेशानियों से छुटकारा दिलाने से स्त्री कभी भी मुक्त नहीं हो सकती । उन हाथों को काटना ज़रूरी है जो उन्हें हर बार अंधे कुएँ में धकेल देते हैं ।

सूका इंदर पर भरोसा करके ही भगौती के घर से भाग निकली थी । पर जब कलकत्ते से पुलिस और भगौती के घरवाले पकड़कर ले गए, तब इंदर ने उसे उनके हाथों से छुड़ाने की पहल नहीं की । इस एक घटना से सूका के मन में इंदर के प्रति ज़्यादा नफरत पैदा हो गई । उतनी नफरत शायद भगौती से भी नहीं करती । स्त्री के मन में एक बार नफरत की चिंगारी पड़ जाए तो कभी बुझ नहीं पाएगी । सूका इंदर से कहती है, "तुझसे मतलब, वह मेरा पति है, मुझे मार डालेगा तो क्या, मुझे मंज़ूर है, वह, उसकी मार उसकी यातना और कमालपुर के कुएँ, नदी, नाले सब । लेकिन किसी भी हालत में तू नहीं, न तेरी दया, न तेरा गाँव, न कलकत्ता, न बम्बई, न सुख, न भोग, कुछ नहीं, चला जा यहाँ से, निकल जा मेरे घर से ।" [1] इंदर के प्रति सूका का विश्वास टूट गया ।

एक औरत को हराने के कई रास्ते हैं । सूका को हराने केलिए भगौती दूसरा ब्याह कर ले आता है । उस लड़की का नाम है लक्ष्मी । आधुनिक युग की 'वुमनिसम' की छाप इस नाटक में देख सकते हैं । भगौती ने सूका को परेशान करने केलिए लक्ष्मी को खरीदकर सौत के रूप में लाया था । पर सूका और लक्ष्मी की अच्छी बनती थी । दोनों एक दूसरे का सहारा बनती थी । लक्ष्मी का दुख सूका को सहन न होता था । वह उससे कहती है, "रोने के लिए मैं हूँ ही । मेरे जीते अगर तुम्हें भी रोना पड़ा तो मेरे आँसू बेकार हैं ।" [2] सूका अच्छे वक्त की आशा में इंदर के साथ भागी थी पर उसे दुख के अलावा कुछ न मिला । इसलिए लक्ष्मी को हीरा के साथ भेजने केलिए डर रही थी । वह उससे कहती है कि वह हीरा को बुलवाएगी तथा सौगंध दिलवाकर सब बातें उससे साफ कर लेगी क्योंकि वह तिल भर नहीं चाहती कि लक्ष्मी को भी उसकी तरह कहीं भटकना पड़े ।

[1] लक्ष्मीनारायण लाल, 'अंधा कुआँ', पृ.सं- 79
[2] वही, पृ.सं- 113

असल में यही नारीवाद है। एक स्त्री को दुख और आफत में पड़ने से पहले ही सुरक्षा देना ही परम आवश्यक है। वह चाहती ज़रूर है कि लक्ष्मी को अपना खोया प्यार वापस मिल जाए और भगौती के जहन्नुम से बच निकले। बड़े प्यार से मातृत्व भाव से लक्ष्मी को चोरी छिपे विदा करती है। उसे भगौती की मार की कतई चिंता नहीं होती। इस बात की खुशी ज़रूर होती है कि उसने उसकी ज़िंदगी बचा ली।

1975 को प्रकाशित 'व्यक्तिगत' नाटक में वर्तमान माहौल में बढ़ती व्यक्तिवादी चेतना को दिखाया गया है। इस नाटक में प्रधान पात्र 'मैं' और 'वह' है। इस नाटक में 'निर्देशक की बात' अंश में एम.के रैना कहते हैं, "'हड़प लो'-'मैं' की यही वह धुरी है, जिसपर उसका पूरा जीवन घूमता है। शोषण ही उसके लिए जीवन है और इसमें उसकी पत्नी 'वह' एक दिलचस्प शिकार है।"[1] लाल यह दिखाना चाहते हैं कि जब तक परिवार में 'मैं' और 'वह' की भावना होगी, तब तक पति-पत्नी के बीच टकरार होती रहेगी। 'मैं' ने अपनी वाक्पटुता से 'वह' और 'वह' के घरवालों को शादी केलिए मनवा लेता है। पर शादी के बाद उसी 'मैं' को 'वह' का साथ पसंद नहीं होता। पत्नी को भी कभी-कबार ऐसा ही अनुभव होता है। 'मैं' का यह मानना था कि पुरुष का लक्षण, हर हाल में अपनी इच्छा की पूर्ति करना है और जो चीज़ वह पसंद कर लेता है, वह उसका हो जाता है। क्योंकि पसंद का संबंध इच्छा से है। शादी के पहले वह एक ऐसी स्त्री की कल्पना करता था जिसमें इतने गुण हो कि पति घर में आकर अपनी बाहर की दुनिया भूल सके। उसे बढ़िया भोजन और चाय भी बनाना था। उसे एक आदर्श माँ भी होना है। उसे एक 'बेहतरीन पत्नी' चाहिए थी। 'इंटेलेक्चुअल के साथ-साथ सीधी और नेक भी होना है। इन सबसे एक बात साफ होती है कि पत्नी पूर्ण रूप से परिवार केलिए जिए। इसमें कहीं भी उसकी इच्छा का चित्र नहीं मिलता। इस पर व्यंग्य कसते हुए 'वह' कहती है, "पत्नी

[1] वही, व्यक्तिगत, पृ.सं- 8

की 'स्विच' पति के हाथ में है, वह जो मूड चाहे बटन दबा दे....." [1] पति हमेशा नियंत्रक बनना ही पसंद करता है। हर नारी स्वतंत्रता चाहती है, आर्थिक स्वतंत्रता हो तो और भी खुश। पर इसके पीछे भी यह सवाल बना रहता है कि क्या अब नारी स्वतंत्र है ? जीवन की इस विदंबना को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया गया है। नौकरी के दौड़ धूप में स्त्री अपने आप मिटती जाती है। 'वह' जब नौकरी करने जाती है तो उसे भी ऐसा लगने लगता है। वह कहती है, "मैं ऐसी क्यों होती जा रही हूँ ? कहाँ गई मेरी सारी अस्मिता ! वह संगीत कहाँ है ? कैसी-कैसी इच्छाएँ भी तो है। मैं शांति भी चाहती हूँ और विद्रोह भी। मतलब शादी और नौकरी दोनों।" [2] स्त्री जब नौकरी करने जाती है तो उसका जीवन ही बदल जाता है। एक पल भी वह राहत के साथ विश्राम नहीं कर सकती। क्योंकि स्त्री के तो बच्चे, पति, घर, अपने आप को भी संभालना है। 'वह' को महसूस होता है कि उसकी पढ़ाई, संस्कार, संगीत कुछ भी उसके काम नहीं आ रहा है। वह सिर्फ होड़ में भागीदार बन रही है। खुद मिटती जा रही है। लक्ष्मी नारायण लाल की नायिका कई तरह से शोषित होती रहती है। आवाज़ उठाने की शक्ति होते हुए भी कहीं न कहीं सिमटती रह जाती है।

शंकर शेष

स्वतंत्रता के पश्चात मोहभंग की स्थिति का फैलाव हुआ, इस स्थिति को शंकर शेष ने सफलता से अपने नाटकों में अंकित किया है। उनके 'रत्नगर्भा' (1956) नाटक में प्रेम का एक बदला हुआ रूप दिखाई देता है। जो प्रेम एकनिष्ठता, त्याग आदि की बुनियाद पर टिका था, वह आज बेमतलब बनता जा रहा है। वर्तमान समाज के सोच को जगदीश के शब्दों से व्यक्त किया गया है, "किसी का सुंदर मन लेकर क्या चाटोगे ? प्रेम और मन अब 19 वीं शताब्दी की बातें हैं सुनिल। अब आदमी का मन रुग्ण है। आज

[1] लक्ष्मीनारायण लाल, व्यक्तिगत, पृ.सं- 40
[2] वही, पृ.सं- 45

समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, जिसके पास सुंदर तन है और उस तन की रक्षा केलिए काफी धन है ।"[1] इससे एक बात सामने आती है कि तन और धन सब कुछ है । मौके के हिसाब से प्रेम का इस्तेमाल ही वर्तमान सच्चाई है । यद्यपि आँख मूँदकर इला पुरुष वर्ग पर विश्वास करती है, पर उसकी बहन माया ऐसी नहीं थी । वह अपनी बहन की आँखें खोलने का प्रयास करती है- "पतिव्रता बने रहने का मतलब यह तो नहीं कि तुम अत्याचार सहती रहो ।.....तुम अपने अधिकारों केलिए लड़ोगी नहीं तो, यह क्रूर समाज तुम्हारा सिर कुचलकर रख देगा ।" [2] वह यह स्पष्ट करना चाहती है कि चुप रहकर कायरता दिखाने से पुरुष उसका लाभ उठाने से नहीं चूकेगा । शंकर शेष कहना चाहते हैं कि समाज में माया जैसी स्त्रियों की ज़रूरत है जो अपना प्रतिरोध प्रकट करने में नहीं हिचकती ।

अपने जीवन को सुविधाओं से सुसज्जित करने केलिए अधुनिक इंसान क्या कुछ नहीं करता, इसका एक साफ तस्वीर 'रक्तबीज' (1976) नाटक में दिखाई देता है । इसमें बॉस और पति से शोषण का शिकार बनती नारी का चित्र है । स्त्री अपने पति को सचेत करने की कोशिश करती है । पर पति सब कुछ जानकर भी अनजान बना रहना चाहता है । स्त्री (सुजाता) और पति (शर्मा) दोनों जानते हैं कि बॉस सुजाता का शारीरिक शोषण करना चाहता है । फिर भी पति बॉस की सारी चीज़ें मानने केलिए कहता है । स्त्री उल्टा सवाल करती है, "तो क्या तुम चाहते हो कि मैं उसे खुश करूँ । उसे खुश करने का अर्थ समझते हुए भी चाहते हो कि मैं जाऊँ...."[3] पति यहाँ पर अपनी पत्नी का इस्तेमाल करना चाहता है । नाटककार ने इस बात को अंकित किया है कि स्त्रियाँ अगर सशक्त स्वर में ना कहें तो कोई कुछ नहीं कर सकता ।

---

[1] शंकर शेष, रत्नगर्भा, पृ.सं- 25

[2] वही, पृ.सं- 37

[3] शंकर शेष, रत्नगर्भा, पृ.सं- 36

'एक और द्रोणाचार्य' (1971) नाटक में शंकर शेष ने मिथक के ज़रिए आधुनिक जीवन संदर्भ को देखने का अनूठा प्रयास किया है। आज के इस मशीनी युग में सब लोग मशीन बन गए हैं। सबके मन में मानवीय प्रेम और संवेदना बस एक दिखावा बन गये हैं। इस नाटक में द्रौपदी-वस्त्र-हरण में चुप्पी साधे द्रोणाचार्य का संदर्भ उठाया गया है। द्रौपदी सभा में बैठे सभी पुरुषों से मदद माँगती है पर कोई आगे नहीं आता। वह द्रोणाचार्य के सामने जाकर कहती है, "आचार्य, आप तो न पांडवों के रक्त संबंधी हैं, न कौरव के। आप आचार्य है दोनों के ! .... क्या आप अपने शिष्यों की पत्नी को सार्वजनिक रूप से अपमानित होते देख सकते हैं ? उठाइए अपना धनुष।"[1] द्रौपदी का अपमान होते देख मौन साधे बैठे द्रोण के बारे में जानकर द्रोण की पत्नी कृपी आग बबूला होती है। वह कहती है, "मैं पूछती हूँ तुम्हारा आचार्यत्व कहाँ मर गया था ? .....तुमने चुप रहकर शिक्षक को अन्याय पीने की परंपरा दे दी।" [2] इस संवाद में कृपी आधुनिक सजग नारी का प्रतिनिधित्व करती है। गलत को गलत कहने में हिचकती नहीं। अगर गलती पति से होती है तो उसकी ओर इशारा करने में भी संकोच नहीं करती।

न्याय के साथ खड़े न होने के कई कारण होते हैं। महाभारत में द्रोणाचार्य द्रौपदी का साथ न दे सके, क्योंकि वे कौरवों के अन्न पर पलते थे। आधुनिक युग में अरविंद अनुराधा का साथ न दे सके क्योंकि वे प्रेसिडेंट की कृपा पर निर्भर थे। इसी वजह से उस युग में भी एक स्त्री को अपमान सहना पड़ा और आधुनिक युग में भी।

1980 में प्रकाशित 'कोमल गांधार' का आधार यद्यपि पुराण है, पर आधुनिक संवेदना से युक्त नाटक है। राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने केलिए भीष्म गांधारी का इस्तेमाल करते हैं। धन दौलत केलिए गांधारी का पिता सुबल अपनी बेटी को अंधे धृतराष्ट्र के हाथों सौंपने केलिए तैयार हो जाता है। गाँधारी से विवाह की कोई चर्चा के

[1] शंकर शेष, एक और द्रोणाचार्य, पृ.सं- 83
[2] वही, पृ.सं- 84

बिना ज़बरदस्ती धृतराष्ट्र के साथ संबंध जोड़ दिया जाता है। "मेरी सहमति का कोई अर्थ नहीं है क्या ? क्यों नकार दिया गया मेरे अस्तित्व को पूरी तरह.... राजरक्त से जन्मे एक शरीर से ज़्यादा कुछ नहीं माना गया मुझे । क्यों.... मैं स्त्री हूँ इसलिए मुझ पर अन्याय करने का इन्हें एक नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है ? सब एक जात के हैं- मेरे पिता, भीष्म और यहाँ तक मेरे भावी पति धृतराष्ट्र भी ।" [1] गांधारी राजनैतिक षड्यंत्र का शिकार बन जाती है । अपने विरुद्ध हो रहे अन्याय का पता होना सजगता की पहली सीढ़ी है । स्त्री विमर्श का आधार ही सजगता है ।

शंकर शेष का 1985 में प्रकाशित 'बिन बाती का दीप' नाटक में शिवराज पैसे और यश की लालसा में इतना गिर जाता है कि अपनी अंधी पत्नी को धोखा देता है । शिवराज का लेखक के रूप में अस्तित्व विशाखा की वजह से थी । शंकर शेष ने वाकई स्त्री का महत्व बहुत बढ़ा दिया है । जहाँ शिवराज ने नाम और शोहरत के वास्ते पत्नी को धोखा देने और उसकी मौत की चाह रखने केलिए नहीं हिचका, वहीं विशाखा इस धोखे को पहचान कर भी अपना हक जताने की कोशिश न करती है तथा अपने पति से इस सच्चाई का बखान किसी से न करने का मत भी प्रकट करती है । यानी शिवराज के मन को अपराध बोध से भर देती है जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाता । इस तरह शिवराज के साहित्यकार की ज़िंदगी विशाखा की दी हुई भीख बन जाती है । इस नाटक में नाटककार ने मानसिक रूप से सशक्त नारी का चित्रण किया है ।

मृदुला गर्ग

1978 में प्रकाशित 'एक और अजनबी' में मृदुला गर्ग ने शानी के मन के परतों को खोला है । शानी और उसका पति आपसी रिश्ते को देह के धरातल से परे भोग नहीं पाते । शानी अपने पड़ोसी से यह जान पाती है कि प्रेम शरीर से बहुत आगे की चीज़ है ।

---

[1] शंकर शेष, कोमल गांधार, पृ.सं- 194

शानी को अपने पति से इस तरह का प्यार कभी नहीं मिलता । पहले, उसका पति जगमोहन इस बात से बेखबर था कि (बॉस) इंदर खोसला, शानी से परिचित था । इस नाटक में अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति केलिए पत्नी का उपयोग करने वाले आधुनिक पतियों का पोल खोला गया है । जगमोहन, शानी और इंदर की नज़दीकियों को चाहकर भी दूर नहीं कर पाता । यही आधुनिक मानसिकता है । जिस व्यक्ति के हाथों माँ-बाप अपनी बेटी को इस विश्वास के साथ सौंपते हैं कि वह ज़िंदगी भर उसकी इज़्ज़त, आबरू को बचाए रखेगा, वही उसे सौदे पर लगाएगा तो विवाह के वचनों का क्या मतलब ? सीमंतनी उपदेश में कहा है, "स्त्री-पुरुष का रिश्ता रूहानी है जिस्मानी नहीं है ।" [1] पर शानी की ज़िंदगी में प्रेमी और पति दोनों उसकी जिस्म की चाह रखते हैं । दोनों उसकी रूह तक नहीं पहुँच पाते । शानी की तलाश अधूरी रह जाती है । उसे शरीर मिलें पर कोई सच्चा मर्द नहीं । इस तलाश में वह खुद को भूल जाती है, बेशर्मी की हदें पार कर जाती है । नाटककार ने यह दिखाने की कोशिश की है कि एक औरत कैसे उच्छृंखल बन जाती है ।

सुरेंद्र वर्मा

नाटक को साहित्यिक स्तर से ऊपर उठाकर रंग संपृक्ति के स्तर तक ले जाने वालों में सुरेंद्र वर्मा का नाम भी गिनाया जा सकता है । उनके नाटक 'सेतुबंध' में सत्ता तंत्र के आगे विवश होकर अपनी भावनाओं को हमेशा-हमेशा केलिए दफनानेवाली एक नारी का चित्रण है । राजकीय हित केलिए चंद्रगुप्त की दुहिता कालिदास के प्रति अपना अनुराग दबा देती है । उसका जीवन सिर्फ एक कूटनीतिक चाल बनकर रह जाती है । शारीरिक रूप से तो पति से संबंध जोड़ती है पर मानसिक रूप से नहीं । वह कहती है, "दिनचर्या के क्रम में जैसे और सब आता था- स्नान, खान-पान, राजकार्य, आखेट.....

[1] अज्ञात हिंदू औरत-सीमंतनी उपदेश, पृ.सं- 106

उसी तरह पत्नी भी आती थी.....अच्छा था, जो पत्नी से उनकी अपेक्षाएँ बहुत कम थीं, वरना, कालिदास के भुवनमोहन आकर्षण के बाद एक औसत व्यक्ति की निकटता को अधिक देर तक सहन करना-----"[1] एक जवान बेटे की माँ होकर भी खुलके उससे कहती है, "कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है..... मैं माँ बनी हूँ लेकिन पत्नी नहीं।"[2] मन की व्यथा को खुलकर कहने की शक्ति नारीवाद की देन है। यह स्त्री विमर्श को और भी पक्का करता है। आजीवन मानसिक त्रास झेलती रहती है। उसे सबसे बड़ा धक्का तब होता है जब अपना बेटा भी उसे समझ नहीं पाता।

शांति मेहरोत्रा

आज नारी स्वतंत्रता की धरातल व्यापक होती जा रही है। इसके कारण अपने पसंद का साथी चुनने की चाहत भी बढ़ने लगे हैं। इस संदर्भ में शांति मेहरोत्रा के नाटक 'ठहरा हुआ पानी' की परख करना ज़रूरी है। मध्यवर्गीय परिवार में व्याप्त दमघोंटू वातावरण स्त्रियों की ज़िंदगी को ठहरा हुआ पानी जैसा बना देता है। पिता का एकाधिकार घर में छाया रहता है। इसके नीचे बाकी सारी ज़िंदगियाँ प्रवाहहीन होकर सड़ने लगती हैं। सीता स्वतंत्र होकर जीने केलिए अलग से रहती है। इस नाटक के द्वारा नाटककार यह कहना चाहती है कि परिवार किसी के वर्चस्व में नहीं चल सकता। हर सदस्य का अपना-अपना अस्तित्व होना बहुत ज़रूरी है। तभी परिवार में सुख और शांति बरकरार रहेगी।

भीष्म साहनी

महत्वांक्षी पुरुष और उस महत्वांकाक्षा के रास्ते में कुचलती स्त्री को महाभारत से गालव प्रसंग के ज़रिए भीष्म साहनी 'माधवी' में प्रस्तुत करते हैं।

---

[1] सुरेंद्र वर्मा, सेतुबंध, पृ.सं- 34
[2] वही, पृ.सं- 35

गालव की प्रशंसा में फँसकर वह कहता है, "सुनो गालव, मैं तुम्हें आठ-सौ अश्वमेधी घोड़े तो नहीं दे सकता, पर मैं अपनी एकमात्र कन्या तुम्हें सौंप सकता हूँ।"[1] ययाति के इस दान ने समाज में स्त्री का स्थान स्पष्ट कर दिया है। स्त्री तो पुरुष के उपयोग में आनेवाली चीज़ है। माधवी को बस यह आज्ञा दी जाती है कि वह गालव के साथ जाए। इससे ययाति संतुष्ट था क्योंकि मात्र एक आश्रमवासी होकर भी एक अभ्यर्थी को खाली हाथ जाने नहीं दिया।

माधवी को चिर कौमार्य का वर प्राप्त था। पर इससे फायदा पुरुष का होता है। माधवी का यह वर पुरुषों के संतोष और आनंद केलिए था। अर्थात् वह हमेशा किसी न किसी की निमित्त बनती है। स्त्री के अभागे दिन का दोष नियति पर डाल कर लोग अपना हाथ धो लेते हैं। ययाति बेझिझक कहता है कि माधवी का जन्म चक्रवर्ती राजा को जन्म देने केलिए था। यह उसके नसीब में निहित है। इसलिए माधवी को गालव के हाथों सौंपना उचित ठहराता है। वह बेटी से कहता है, "भाग्य ही उसे गुरुदक्षिणा का निमित्त बना रहा है।" [2] इससे यह बात साफ होती है कि पुरुष करता सब कुछ है और बड़ी चालाकी से खुद बच निकलता है। माधवी को पाकर गालव को ऐसा लगता है कि उसके सामने कई संभावनाओं के किवाड़ खुलने लगे हैं। अगर माधवी का भोग गालव भी करे तो उसे भी एक चक्रवर्ती राजा मिल जाएगा। उसके मन में माधवी के प्रति शुरुआत से लेकर आखिर तक यही एक भावना बनी रहती है। पर खुद को संयत रखता है क्योंकि उसे सबसे पहले माधवी को ज़रिया बनाकर ऋण चुकाना था। वह सोचता है, "माधवी को खो देना, अपने भाग्य को खो देना होगा।....." [3] उसके मन में माधवी के प्रति आकर्षण होता है पर उसके पीछे सिर्फ अपना स्वार्थ है।

---

[1] भीष्म साहनी, माधवी, पृ.सं-19
[2] वही, पृ.सं-21
[3] वही, पृ.सं-26

किराये की कोख वर्तमान यथार्थ है। यहाँ पुरुष, स्त्री का उपभोग करता है, पैसा देकर कोख किराए पर लेता है, पैसे देकर माँ-बच्चे के रिश्ते को तोड़ देता है। स्त्री एक वस्तु मात्र बन जाती है, जिसकी भावना-संवेदना की परवाह कोई नहीं करता है।'करेंसी' और पुरुष सब कुछ करते हैं। इसे भी पौराणिक प्रसंग के ज़रिए नाटककार ने दिखाया है।

पुरुष यह मानता है कि स्त्री को दबाए रखना ज़रूरी है। क्योंकि वह चंचल है। एक दिन सहसा माधवी दिखाई नहीं देती। तब गालव माधवी के बारे में सोचने लगता है। गालव स्त्री स्वभाव का विश्लेषण करता है- "पुरुष को भगवान ने धीर-गंभीर बनाया है, पर पुरुष का अंकुश सदा बना रहना चाहिए। इसमें अन्तत: स्त्री का ही लाभ है।"[1] पुरुष के मन में यह रूढ़ हो गई है कि स्त्री पर दबाव रखना ज़रूरी है। इस रूढ़ विचार की वजह से ही परिवार और समाज में स्त्री का शोषण होता रहता है।

भीष्म साहनी ने माधवी के माध्यम में स्त्री मन को परत-दर-परत खोला है। गालव माधवी से मुँह मोड़ता है तो वह कहती है कि माधवी ने अपने यौवन की आहुति देकर गुरुदक्षिणा जुटाई थी पर लोग उसकी याद नहीं करेंगे। वह माहौल को समझकर कहती है, "संसार तुम्हें ही तपस्वी और साधक कहेगा ! मेरे पिताजी को दानवीर कहेगा और मुझे ? चंचल वृत्ति की नारी, जिसका विश्वास नहीं किया जा सकता। यही....न ?" [2] माधवी समाज के सोच पर फब्ती कसती है। वह खुलकर कहती है कि गालव को सिर्फ अपने आप से प्यार था। नाटक के अंत में वह दृढ़ निश्चय करती है कि वह आज तक दूसरे केलिए जीती रही अब उसे अपना कर्त्तव्य पूरा करना है। वह सब कुछ छोड़ अपना रास्ता अलग ढूँढने केलिए निकल पड़ती है।

माधवी एक ऐसी नारी है जो कई मर्दों की बुरी नज़रों से पीड़ित है। स्त्रीत्व का

---

[1] भीष्म साहनी, माधवी, पृ.सं-92
[2] वही, पृ.सं-116

अपमान करनेवाले लोगों के आगे होंठ सिए खड़ी रहते है। अपनी ममता को भी हर बार दबाकर रखती है। इतना सब सहने के पीछे एक विश्वास था कि गालव उसे अपनायेगा। उसे प्यार से सरोबार कर देगा पर जब यह सब नष्ट होता है, तो फिर पुरुष के हाथ की कठपुतली बनने केलिए तैयार नहीं होती और सशक्त प्रतिरोध ज़ाहिर करती है। भीष्म साहनी ने एक भारतीय नारी को उसके यथार्थ में चित्रित किया है। वह सब कुछ सहेगी पर एक सीमा तक।

प्रभाकर श्रोत्रिय

'इला' स्त्री पर केंद्रित इनका एक महत्वपूर्ण नाटक है। "प्राचीन काल से लेकर आज तक स्त्री की अस्मिता के विरुद्ध सामाजिक-सांस्कृतिक निषेधों, वंचनाओं, स्वार्थपूर्ण प्रयोगों और अमानवीय अत्याचार होते आ रहे हैं, स्त्री इन सबकी शिकार बनती आ रही है। इस यथार्थ का खुलासा भी यह नाटक करता है।"[1] नाटककार, स्त्री से जुड़ी कई समस्याओं को प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं।

'पुत्रकामेष्टि' का मतलब पुत्र की कामना करना नहीं बल्कि संतान की कामना है। पर महाराज मनु अपने राज्य का उत्तराधिकारी पाने केलिए पुत्रकामेष्टि यज्ञ आयोजित करते हैं। इस बात से अंजान महारानी श्रद्धा बेटी की कामना करती है। राजा इस बात से परेशान हो उठते हैं कि उनके धर्म कर्म और राजत्व पर उंगली उठेगी। इस डर की वजह से राजगुरु वशिष्ठ से अपनी बेटी इला को सुद्युम्न बनाने का निवेदन करते हैं। इस घटना से दो बातें साफ होती हैं। एक तो महारानी श्रद्धा इस बात से वाकिफ होती है कि वह राज्य केलिए उत्तराधिकार पैदा करने की मात्र एक मशीन है और उसकी अपनी इच्छा का कोई स्थान नहीं है। जब श्रद्धा इन दोनों बातों से वाकिफ होती है, तब वह अपना विरोध यह निर्णय लेकर करती है कि वह दुबारा कभी माँ नहीं बनेगी। वह

[1] नटरंग, अंक 64, जुलाई1996-जून1998

राजवंश के 'छल' को अपने रक्त से पालने केलिए तैयार नहीं थी। सुद्युम्न को ज़िंदगी भर दोहरी मन:स्थितियों के विकट अंतर्द्वन्द्व एवं त्रासदी से गुज़रना पड़ता है । वह राजपुरुषोचित कठोरता केलिए सारे प्रयत्न करते हुए भी अपनी स्त्रीयोचित कोमल मानवीय संवेदना का परिहार नहीं कर पाता । इसमें स्त्री शोषण के सभी पक्षों का उद्घाटन किया है। डॉ.जयदेव तनेजा के अनुसार,"इला पुरुष सत्ता द्वारा स्त्री पर, अनादि काल से लेकर आज तक विविध रूपों एवं स्तरों पर किये जानेवाले बलात्कार और अन्याय अत्याचार की उत्तेजक कहानी है ।"[1] क्या वंशवृक्ष केलिए पुत्रप्राप्ति ज़रूरी है ? और क्या मातृत्व संतान के अभाव में अपूर्ण है?- नाटककार ने ये दो सवाल उठाने की कोशिश की है क्योंकि कई बातों में यही दो बातें हैं जिसके कारण स्त्री परिवार और समाज में शोषित होती रहती है।

भारतभूषण अग्रवाल

प्रगतिवादी चिंतन से ओतप्रोत भारतभूषण अग्रवाल वर्गविहीन और शोषण मुक्त समाज का सपना देखनेवाले थे । 'अग्निलीक' में उन्होंने राम और सीता को आधुनिक संदर्भ में देखा है। 'सीता परित्याग' को विषय के रूप में चुना है। सीता अपने प्रति किए गए अनाचारों का प्रतिरोध करती है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का परंपरागत रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है। सीता स्वयं को पुरुष सत्तात्मक समाज और पारिवारिक बंधनों से मुक्त होकर स्वत: अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करती है । वाल्मीकी और तुलसी द्वारा चित्रित सीता की भाँति इस नाटक में पुरुष सत्तात्मक समाज के अत्याचारों को चुपचाप नहीं सहती । वक्त आने पर गिन-गिनकर राम के आगे प्रश्नचिह्न डालती है । राम की राज्यलिप्सा और हमेशा विजयी बनने की चाहत को सीता लताड़ती है। सम्राट बनने की होड़ में भोली-भाली जनता का चीत्कार न सुनने की उनकी कमी की ओर भी इशारा करती है । सीता की अस्तित्ववादी चिंतन के परिणामस्वरूप वह अपनी स्वतंत्रा की

[1] हिन्दी रंगमंच दशा और दिशा, पृ.सं-249

घोषणा करती है। अंत में राम को अपने किए पर पछतावा होता है। पर कुछ न कर पाने की ग्लानि में सिर झुककर खड़े रहने के दृश्य से नाटक का अंत होता है। नाटककार ने नारी सम्मान और नारी के अधिकार की आवाज़ बुलंद की है। वे स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं देखना चाहते। दोनों अपने-अपने अधिकार के हकदार हैं। अत: इसमें स्त्री की, पुरुष के नीचे दबी रहने की दर्दनाक स्थिति को खारिज करने की कोशिश की गई है।

मुद्राराक्षस

मुद्राराक्षस के 3 नाटकों में नारी के भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। 'योर्स फेथफुली' सन् 1972 का नाटक है। इसमें महानगरीय जीवन की त्रासदी झेलती एक नारी का चित्रण है। उसे अपने जीवन में कई तरह के समझौते करने पड़ते हैं। नौकरी केलिए सब कुछ सहने केलिए विवश होती है। अफसर अपने मन के मुताबिक उससे पेश आता है। पहले वह उसका भोग करना चाहता है पर हालात के डर से उसी पर चिल्लाता है- "गेट औट आफ हियर। तुम मुझे भ्रष्ट करना चाहती हो। मुझे तबाह करना चाहती हो ?"[1] (मुद्राराक्षस, योर्स फेथफुली, पृ.सं- 54) लोगों के सामने एक चेहरा और असल में दूसरा। रूपा के साथ अफसर इस तरह पेश आता है कि वह उसे हाथ से जाने देना नहीं चाहता पर दूसरों के सामने उसका बर्ताव बिलकुल बदल जाता है। 'योर्स फेथफुली' एक प्रतीकात्मक नाटक है। महानगर की विसंगति को द्योतित करने वाला शीर्षक है 'योर्स फेथफुली'। इस नाटक में यौन संबंध की कुछ बातें खुलकर की गई है। इस संदर्भ में मुद्राराक्षस कहते हैं, "इस नाटक में सेक्स स्वयं एक वक्तव्य है। वह पराजित मन का ऐसा अवशिष्ट जीवन तंतु है जिसने पात्रों की समझ को बीमार कर दिया है। जिन पात्रों ने सभी हथियार डाल दिए हैं या जिन्हें विवश निहत्था कर दिया गया है, वे

[1] मुद्राराक्षस(भूमिका), योर्स फेथफुली, पृ.सं- 21

अगर जननेंद्रिय में ही अपनी जिजीविषा खोजे तो आश्चर्य क्या है ?"[1] नाटककार के इन शब्दों से उनकी दृष्टि प्रकट होती। यही दृष्टि स्त्री को चित्रित करने में भी अपनाई है।

रमेश बक्षी

'देवयानी का कहना है'(1972)- उत्तर आधुनिक युग में सहजीवन एक आम बात हो गई है। दर्शकों को रमेश बक्षी की दूरदर्शिता का एहसास इस नाटक के द्वारा प्राप्त होती है। जैसा ही शीर्षक द्योतित करता है, यह पूरा नाटक नायिका देवयानी के इर्द-गिर्द ही घूमता है। आधुनिक युग में काम की बात करने में कोई संकोच नहीं होता। देवयानी और साधन सहजीवन का रास्ता अपनाने का निर्णय लेते हैं। पर लोगों से यह झूठ कहा जाता है कि वे दोनों पति-पत्नी है। साधन मुसीबतों को झेलने से डरता है, खासतौर पर देवयानी के पिता का सामना भी उसके बस की बात नहीं थी। उस संदर्भ में देवयानी कहती है, "औरत के साथ बिस्तरबाज़ी कर लेना ही वीरता नहीं है। वो तो कुत्ते-बिल्ली भी जमा लेते हैं। यू शुड भी बहादुर"[2] स्त्री को तन-मन से हराने केलिए पुरुष के द्वारा अपनाने वाला तरीका है यौन संपर्क स्थापित करना। उस मानसिकता को देवयानी तोड़ती है। देवयानी मानती है कि उसे अपनी ज़िंदगी अपने हिसाब से जीने का पूरा अधिकार है। इतने सालों तक स्त्रियों को चार दीवारी का घुटन महसूस करना पड़ा। इस घुटन को देवयानी चीर फाड़ कर रख देती है। साथ रहने से पहले ही साधन के सामने अपना शर्त रख लेती है। बीवी को पाँव की जूती समझने के प्रति अपनी सशक्त आवाज़ उठाती है। वह कहती है, "तुम्हारे साथ आने की मेरी पहली शर्त यह थी कि तुम कोई भी आर्ष वाक्य नहीं बोलोगे। और दूसरों को कोट कर-करके मुझे जीने की दिशा नहीं बतलाओगे। इतने पर भी अगर तुम अपने आपको ही तीस मार खा समझते हो तो आई

[1] मुद्राराक्षस, योर्स फेथफुली, पृ. सं. 54

[2] वही, पृ.सं 21

वुड प्रस्थान ।"[1] स्त्री का खुलापन देवयानी में साफ दिखता है । वह तो अपने मन से साधन के साथ रहने आती है पर कभी भी साधन के हाथों दबना नहीं चाहती । साधन को वह समझाती है कि जो स्त्री रिश्तों के खातिर कुछ भी सहने केलिए तैयार थी, आज के ज़माने में वह अपने अस्तित्व और स्वाभिमान के खातिर सब रिश्ते तोड़ कर चली जाने में भी संकोच न करती । यहाँ पर स्त्रीवाद का अतिरंजित रूप देखने को मिलता है । ज़िंदगी में दिल का सुनकर मन चाहे हमसफर को बदलते रहने को ही देवयानी आदर्श ज़िंदगी मानती है ।

नाग बोडस

"जीव वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, अनुवांशिक, पारंपरिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक आदि न जाने कितने जाने-अनजाने पहलू स्त्री-पुरुष संबंधों को प्रभावित करते हैं ।"[2] साहित्यकार अपने साहित्य के ज़रिए इन्हीं पहलुओं और प्रभाव को अंकित करने की कोशिश करते आए हैं और यह सिलसिला आज भी जारी है ।

नाग बोडस ने अपने नाटक नर-नारी (1998) में स्त्री और पुरुष को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है । एक गाँव की पृष्ठभूमि में लिखित नाटक को नौटंकी शैली से सजाया, सँवारा है । इसके लगभग सभी पात्र पुरुष है पर स्त्री वेश में दिखाई देते हैं । इसमें सिर्फ दो औरते हैं- चमेलीजान और गुल्लो । इस नाटक की शुरुआत बाबा लोचनदास के श्राप की कहानी से होती है । गाँव में औरतें पुरुष के संग केलिए तरसने के श्राप की कहानी फैली थी । इससे मुक्त होने केलिए एक रिवाज़ शुरू हुई कि सात दिन तक पुरुष स्त्री भेस में लोचनदास बाबा की लुगाई बनकर रहे ।

---

[1] रमेश बक्षी पृ.सं-18

[2], पृ.सं-7

पुरुष जब औरत बनता है तब उसे भी उन सारी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो एक औरत करती है। कांतीलाल सात दिन केलिए औरत बनता है। दिलवार झूठ कहकर कांता (कांतीलाल) को नौटंकी का हिस्सा बनाता है। उसके बाद बातों ही बातों में कांता के गले में बाँहें डालता है और उसे चूमने की कोशिश करता है। कांता अलग होकर उसपर एक चाँटा जड़ देता है। तिलमिलाकर वह कहता है, "हरामी की औलाद! जनाना ज़रूर बनी हूँ पर जनका नहीं हूँ, समझा। बाबा की पूजा को दो दिन और हैं, उसके बाद आदमी बनूँगी पक्का। सांड सा।"[1] इसका मतलब है कि औरत का रूप ही उसके शोषित होने का कारण है।

एक औरत की अपनी कमाई होना कितना महत्वपूर्ण है, यह भी इस नाटक में दिखाया गया है। नौटंकी-दल चमेली की थी। वह ही यह चलाती थी। इसलिए वह पूरे हक के साथ दिलावर की बदतमीज़ी का विरोध करती है। कांता को निकल जाने के आदेश सुनकर चमेली दिलावर से कहती है, "नहीं निकलेगी। तुम होते कौन हो निकालनेवाले ?....तुम हवस के कीड़े हो बस। खबरदार जो आगे कभी ऐसी हरकत करने की कोशिश की तो ?" [2] वास्तव में इतने दम से कहने का कारण उसकी कमाई है।

एक ऐसी घटना भी इसमें दिखाई गई है कि चमेली और कांतीलाल को पूरे गाँव का आक्रमण सहना पड़ता है। उस वक्त पुरुष चमेली के साथ बुरा व्यवहार करने लगते हैं। उसे चूमने की कोशिश करते हैं। उसकी ओर बढ़ते हुए उससे सटते हैं और घेरकर छेड़ते हुए 'हाय दिलबर' कहते रहते हैं। इसका विरोध कांतीलाल करता है। वह चिल्लाता हुआ कहता है, "जानवरो। मसानो। राक्षसो। एक अबला के संग ऐसा सलूक ? .....आज पूजा करी और आज ही एक देवी के संग ऐसा सलूक ?"[3] कांतीलाल अत्यंत

---

[1] नाग बोडस, नर-नारी वही, पृ.सं-28
[2] वही, पृ.सं-29
[3] वही, पृ.सं-34

दुख के साथ इन सब केलिए चमेली से माँफी माँगता है। अपने गाँव को छोड़ने का निर्णय भी करता है। यानी लोग भक्ति में लीन तो होते हैं पर बुरे कर्म करना नहीं छोड़ते।

आजकल की स्त्री केलिए एक बहुत बड़ी सीख भी इस नाटक से मिलती है कि एक अजनबी के साथ एक फासला रखते हुए किस तरह से रिश्ता जोड़ा जा सकता है। गुल्लो दिलवरी से कहती है, "बैठने-बतराने की कोऊ मनाई नाहीं। जितनी देर चाहो बैठो। मगर हरकत करन की न सोचिओ।"[1] 'न' कहने की हिम्मत हर औरत में होना ज़रूरी है।

स्त्री अकेले रहने केलिए तैयार नहीं होती क्योंकि वह जानती है कि सैकड़ों आँखें उसपर लगी रहती है। कोई गलती न करके भी कई बार अकेली रहनेवाली स्त्रियों को बेइज़्ज़त होना पड़ता है। ऐसे वक्त पर वह हिम्मत हारेगी तो समाज का कील उसपर चुबता रहेगा। इसका जवाब भी नाग बोडस गुल्लो के ज़रिए देते हैं। "गुल्लो : (गुस्से में चिढ़कर) .....कौन-कौन में हिम्मत है मेरे सामने आयके बोलो ! कायरो ! बुज़दिलो ! पीठ पीछे बदनामी च्यों करते हो ? -.....बताओ तो कौन न देखी गुल्लो को इसक करते में ? अरे कमीनो ! गुल्लो का दरवाज़ा हरदम खुला ! झाँकके देखने की हिम्मत तो दिखाते ? एक अकेली औरत की इज़्ज़त उछालके चटखारे लेय रहे हो भडुआओ।- ये न समझो कि गुल्लो मोम की बनी है, जो तुम्हारे पैरों में गल जाएगी और गिड़गिड़ायगी, निहारे करेगी ! जूता देगी गुल्लो जूता।" [2] डटकर सामना करेगी तो चिढ़ानी की किसी की हिम्मत नहीं होगी। पूरे गाँव को आगाह करती है कि कोई यह न सोचे कि वह अकेली है और इसलिए कमज़ोर है। "डस लेऊँगी एक-एक को। कच्चा चबा जाऊँगी। ये न समझियो कि

[1] नाग बोडस, नर-नारी वही, पृ.सं-45
[2] नाग बोडस, नर-नारी, पृ.सं-57

मरद ने छोड़ी है तो सबकी होय गई ।" [1] गुल्लो प्रितिरोध करनेवाली सशक्त नारी का प्रतिनिधित्व करती है ।

'खूबसूरत बहू' नाग बोडस का ही नाटक है जो सन् 1998 को प्रकाशित हुआ था । यह नाटक एक गाँव को अपने आप में समेटता है । चाची और बहू मुख्य पात्र है । इन दोनों के ज़रिए गाँव में स्त्री की स्थिति को आँका गया है ।

सूनी कोखवाली स्त्री को हर छोटी-छोटी बात काँटे के समान चुबती है । उनसे किस तरह व्यवहार या क्या बात करना है इन सबका संकेत इस नाटक में है । चाची और सुमन बातों ही बातों में बच्चे की बात करती हैं । सुमन एक सच्चा हमदर्द बनती है और कहती है कि उसने एक बच्चे को जन्मा नहीं दिया तो क्या हुआ, उसने पाला तो है । ऐसे संवाद सूनी कोखवाली औरत को ठंडक देती है । शायद नाटककार यह संकेत देते हैं कि मनुष्य एक दूसरे के दर्द को कम करने की कोशिश करनी है न कि बढ़ाने की ।

एक बच्ची के जन्म लेते ही माँ-बप के मन में उसकी शादी की चिंता होती है । यह चिंता और किसी कारण न होकर दहेज के कारण उठती है । इसी प्रथा की वजह से कई माँ जन्म देते ही अपनी बच्ची को मार डालती हैं । कोई दहेज माँग नहीं रहा तो समाज उसे उकसाता है और दहेज मँगवाता है । हरी और चाची सुमन से दहेज की माँग नहीं की पर उसके दोस्त उसे दुत्कारते हैं । उसका चाचा पटेल भी उससे दहेज के बारे में पूछते हैं । हरी दहेज न लेने की बात कई सफाई देकर कहता है । पर चाचा कहता है, "सिगरी लड़िकी अच्छी ई होती हैं लला ! पर कित्ते दिना की अच्छी ? जो दुई बच्चा भये सोई है जाएगी ढचरा ! तू अबें छोटो है, देख बेटा !- मालमत्तो हमेस संग रहते ए । बर्ना फिरि पालो दूसरे की लड़िकी ज़िंदगानी भर फोकट में ।"[2] यह संवाद दिखाता है कि किस तरह

[1] नाग बोडस, नर-नारी, पृ.सं-58
[2] नाग बोडस, खूबसूरत बहू, पृ.सं- 25

बुरे सोच नई पीढ़ी के अंदर भर दिया जाता है। अगर ऐसे सोच कभी रुके नहीं तो स्त्री शोषण का सिलसिला कभी थमेगा नहीं। शादी सिर्फ पैसे ऐंठने का एक 'स्वीकृत' मार्ग है। पुरुष लड़की के पैसों (दहेज के) से ही उसका पालन करने की मंशा रखते हैं।

हरी चाचा के ही शब्दों को चाची के सामने कहता है तो वह प्रतिरोध करती है। वह हरी से पूछती है, "....तो का लड़िकी पालिबे कों लेत हैं ब्याह में पैसा ? और तुम का लूले लँगड़े है गए लला ?" [1] चाची हरी के मन बदलने की कोशिश करती है। हर माँ अपने बेटे के अंदर यह सोच डाल दे कि दहेज माँगना गलत बात है तो कई लड़कियों की ज़िंदगी बच जाएगी। इसके साथ ही अंधविश्वास के पंजों में न फँसने की सीख भी दी गई है। नाटककार ने गाँव की हर छोटी सी छोटी बात का भी विश्लेषण किया है ताकि स्त्री-शोषण के सारे रास्ते प्रकट हो जाए।

मृणाल पाण्डे

हिन्दी नाट्य जगत में मृणाल पाण्डे का नाम सगौरव लिया जा सकता है। उनके नाटक हैं- मौजूदा हालत को देखते हुए, जो राम रचि राखा, आदमी जो मछुआरा नहीं था, चोर निकल के भागा। उन्होंने भ्रष्ट व्यवस्था, नौकरशाही, उपभोगवादी समाज की विसंगति आदि को अपना मुख्य विषय बनाया है। उन्होंने स्त्री पर अधिक ज़ोर देकर कोई नाट्य रचना का सृजन नहीं किया। उन्होंने संपूर्ण समाज को देखने की कोशिश की है।

त्रिपुरारी शर्मा

1999 में प्रकाशित 'सन् सत्तावन का किस्सा : अज़ीज़ुन निसा' में अज़ीज़ुन के द्वारा स्त्री जीवन की विडंबना को प्रस्तुत किया गया है। कानपुर की वेश्या अज़ीज़ुन के

[1] वही, पृ.सं- 27

मन में शम्सुद्दीन से प्रेरणा ग्रहण कर देश केलिए लड़ने का जज़्बा बुलंद होता है । वह शम्सुद्दीन के साथ जंग में शामिल होना चाहती थी ।

"शम्सुद्दीन : ये हमारे पेशे के दायरे है । लेकिन करोगी क्या ? तुम तलवार के पैंतरों से भी वाकिफ नहीं हो ?

अज़ीज़ुन : शिरकत का यही एक तरीका है ?" [1]

उससे कहा जाता है युद्ध में शरीर के टुकड़े हो जाते हैं । यह दृश्य पुरुष भी सहन नहीं कर पाता और अज़ीज़ुन तो एक औरत है, वह कैसे सह पाएगी ? वह किसी की नहीं सुनती और छावनी तक संदेश पहुचाने का खतरनाक काम अपने ढंग से करती है । वह खुद को कमज़ोर कभी नहीं मानती । पर अलीखान और अज़ीज़ुन के बीच जंग छिड़ती है । उस वक्त अज़ीज़ुन डटकर मुकाबला करती है । पर अलीखान जब जीत जाता है तो अज़ीज़ुन को यह कहकर बख्श देता है कि वह एक ख़ातून है । यह वह बिल्कुल सहन नहीं कर पाती । अज़ीज़ुन इस नाटक में बहादुर, देशप्रेमी आदि भावनाओं का सम्मिलित रूप में प्रस्तुत है । वह एक आम स्त्री से अलग बनना चाहती है । पर समाज कभी इसे स्वीकार नहीं करता ।"तुम –तुम हो अज़ीज़ुन । कोई और नहीं बन सकती" । [2] यही स्त्री की सबसे बड़ी विडंबना है ।

निष्कर्ष

स्त्री चेतना को उजागर करनेवाले नाटक भारतेंदु के ज़माने से ही देखने को मिलते हैं । भारतेंदु ने अपने नाटक 'नीलेदेवी' के माध्यम से एक आदर्श भारतीय नारी को सामने रखा है जो शिक्षित है और समयोचित निर्णय लेने में सक्षम है । जीवन में आनेवाले दुखों

---

[1] त्रिपुरारी शर्मा, सन् सत्तावन का किस्सा : अज़ीज़ुन निसा, पृ.सं-35
[2] वही

को धैर्य के साथ झेलती है और पूरे देश का बागडोर अपने हाथों में ले लेती है। अपने पति के ज़ुल्मों को चुपचाप सहना गलत बात है। यह संदेश देनेवाला नाटक है जयशंकर प्रसाद का 'ध्रुवस्वामिनी'। प्रसाद ने स्त्रियों को आगे बढ़ने का रास्ता दिखाया है। ध्रुवस्वामिनी ने हिम्मत के साथ अपने पति को छोड़ दिया। शायद प्रसाद ऐसी औरतों की मौजूदगी ज़रूरी मानते हैं। विवाह एक पवित्र बंधन है, बच्चों का खेल नहीं। इस बंधन की पवित्रता का मज़ाक उड़ानेवाले का वही हश्र होगा जो रामगुप्त का हुआ था। एक परिवार में सुख-चैन इसलिए कायम रहता है क्योंकि उसकी धुरी में स्त्री होती है। शारदा मिश्र ने संज्ञा के ज़रिए दिखाया है कि स्त्री अपना संयम खो देती है तो परिवार की क्या हालत होती है। एक आम स्त्री सबसे ज़्यादा अपने पति का प्यार और इज़्ज़त चाहती है। जब उसे यह भी नहीं मिलता तो वह विकराल रूप ले लेती है। 'द्रौपदी' नाटक में स्वयंवर के खोखलेपन को प्रस्तुत किया गया है। नियमों को अपने हिसाब से तोड़ने-मरोड़ने में पुरुषों की भागीदारी पर व्यंग्य करते हुए 'शेमित्रा' और 'द्रौपदी' सामने आती हैं। उपेंद्रनाथ अश्क स्त्री के संगिनी रूप पर ज़ोर देते हुए अपने नाटकों की रचना की है। स्त्री के आधुनिक होने में कुछ गलत नहीं पर उच्छृंखल होने से बचने की ओर संकेत देते हैं। विष्णु प्रभाकर स्त्री को केंद्र में लाने के पक्षधर है। वे नहीं चाहते कि स्त्री पर किसी भी तरह की बंदिशें हो। उन्होंने अपने नाटकों में स्त्री के प्रतिरोध पर ज़ोर दिया है। आत्महत्या करना भी एक तरह का प्रतिरोध है। विमला रैना के 'न्याय' नाटक में देवकी अपने धोखेबाज़ पति के विरोध में अपना प्रतिरोध आत्महत्या करके करती है। भविष्य में चंद्रमोहन को अपने किए पर अफसोस होकर भी माँफी न माँग पाने की ग्लानि ढोकर ज़िन्दगी बिताना उसकी सज़ा होगी। मोहन राकेश केलिए मल्लिका हमेशा प्रेरक बनी। मल्लिका ने अपने को तोड़कर कालिदास को 'बनाया' पर कोई फायदा नहीं हुआ। उसने अपनी ज़िंदगी में कुछ भी नहीं पाया। मानसिक संघर्ष झेलती मल्लिका को नाटककार ने प्रस्तुत किया है। फिर भी अंत तक वह डटी रहती है। 'लहरों के राजहंस' में नंद के संघर्ष

के साथ-साथ सुंदरी का संघर्ष भी प्रकट कर सिद्ध किया है कि हर एक का अपना व्यक्तित्व होता है। पति-पत्नी एक दूसरे पर किसी बात को थोपने की कोशिश करेंगे तो दरारें आ सकती हैं। 'आधे-अधूरे' में आधुनिक मानव के अधूरेपन को दर्शाया है। स्त्री अपने ही परिवार में खुश नहीं रह पाती, अपनों से कट कर रहती है। अगर पुरुष के मन में यह अधूरापन हो तो पूरे परिवार के छोटे से हिस्से में ही इसका बुरा असर पड़ता है। पर यही अधूरापन एक स्त्री के मन में उभरता हो तो पूरा परिवार ही बिखर जाता है। मन्नू भंडारी ने 'बिना दीवारों के घर' में नौकरी पेशा नारी की त्रासद ज़िंदगी को प्रस्तुत किया है। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'अंधा युग' में सूका पर नृशंसता की बौछार करनेवाले पुरुष को प्रस्तुत किया है। नाटककार ने उसी स्त्री को दूसरी स्त्री की रक्षा करते हुए भी दिखाया है। स्त्रियों के मन में नारी चेतना जगाने में वे सफल हुए हैं। दाम्पत्य में 'मैं' और 'वह' की भावना हो तो एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी रहती है। वे यह स्पष्ट करते हैं कि 'हम' की भावना होनी चाहिए। दर्शकों के मन में यह अलख जगाते हैं कि पत्नी का हमेशा पति से दमित रहना सरासर गलत है। सुरेंद्र वर्मा के नाटक में प्रभावती सब कुछ जानकर भी अनजान बनकर नियति को स्वीकारती है। शांति मेहरोत्रा ने स्त्री की सड़ती हुई ज़िंदगी, ठहरे हुए पानी से तुलना की है। स्त्री को उपभोग की वस्तु न मानने का संकेत देते हुए 'माधवी' की रचना की है। इसमें माधवी अपने पिता और गालव केलिए अपने आप को पर-पुरुष के हाथों समर्पित करती है। गालव माधवी के ज़रिए सब कुछ पा लेता है पर यौवन रूप से रहित माधवी को नहीं चाहता। आखिर वह समझ जाती है कि स्त्री पुरुष के हाथों की कठपुतली नहीं है और अपना प्रतिरोध व्यक्त करते हुए जंगल की ओर मुड़ जाती है। स्त्री-पुरुष के बीच के भेदभाव को मिटाने केलिए प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'इला' की रचना की है। संतान को जन्म स्त्री देती है पर उसपर सबसे ज़्यादा अधिकार पुरुष का होता है। उन्होंने इन सब पर प्रश्न उठाया है। 'अग्निलीक' में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का नकाब उठाने केलिए सीता को वाक्पटु बना दिया गया है। वह आखिर तक राम को क्षमा

नहीं करती और पाताल में शरण ले लेती है । राम ग्लानि से तड़पता रह जाता है । मुद्राराक्षस ने काम को अपने नाटकों में स्थान दिया है । मन में दबे काम का जब विस्फोट होता है तो परिवार और समाज के लिए यह भावना हानिकारक बन जाती है । शहर में नौकरी केलिए सब कुछ सहते रहने की स्त्री की नियति को भी मुद्राराक्षस ने अपने नाटकों का विषय बनाया है । शंकर शेष ने भी स्त्री की काम भावना को सूक्ष्म रूप से प्रकट किया है । वास्तव में स्त्री विमर्श की ओट में जो भद्देपन होता है उसकी ओर इशारा करते हुए 'देवयानी का कहना है' की रचना की है । नाग बोडस ने 'नर-नारी' में स्त्री और पुरुष के मन की तुलना की है । पुरुष को स्त्री बनाकर यह समझाने की कोशिश की है कि स्त्री क्या-क्या सहती है ? वास्तव में पुरुष के मन को नेक रास्ते पर लाने की तरकीब इस नाटक में व्यक्त किया है । अकेली रहनेवाली स्त्री का मन धैर्य से युक्त होना चाहिए । 'खूबसूरत बहू' नाटक में गाँव में एक बहू ने स्त्री की ज़िंदगी का कच्चा-चिट्ठा खोला है । शादी के बाद उसे पढ़ने स्कूल जाने नहीं दिया जाता और उसपर सासु अपनी इच्छाओं को थोपती रहती है । पत्नी के हक से भी उसे वंचित रखा जाता है । बच्चा पैदा न करने के कारण समाज उसपर उंगली उठाता है । अपनी कोई गलती न होने पर भी उसे इन सभी समस्याओं का सामना करना पड़ता है । त्रिपुरारी शर्मा के नाटक 'सन् सत्तावन का एक किस्सा: अज़ीज़ुन निसा' में अज़ीज़ुन नाम की एक तवायफ के माध्यम से यह दिखाया गया है कि एक स्त्री होकर अपने आप को साबित करने केलिए समाज उसे इजाज़त नहीं देता । उसे पुरुष बनकर ही यह साबित करना पड़ता है ।

इन सभी नाटकों से एक बात साफ होती है कि स्त्री अपने परिवार में, समाज में किस तरह की ज़िंदगी बिताती है । धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से स्त्री का स्थान क्या है ? कमज़ोर पड़ी स्त्री को आगे ले आने का प्रयास हर नाटककार ने किया है । स्त्री कमज़ोर नहीं है । उसमें शक्ति है । बस उसे अवसर देने की ज़रूरत है । सब कुछ सहने का मतलब

यह नहीं है कि वह प्रतिक्रिया विहीन इंसान है । अपना संयम टूट जाने से वह सब कुछ छोड़-छाड़कर निकल जाती है । स्त्री अपने रिश्तों को खोना नहीं चाहती । इसलिए उन रिश्तों के खातिर सब सहती रहती है । पर सहने का एक हद होता है । इसके पार होने से वह शोभा, देवयानी, माधवी आदि का रूप ले लेती है ।